

## ‘सम्पत् में विपत् और दीनता में राम’का औचित्य

डॉ. सुबोध कुमार शांडिल्य

‘सम्पत् में विपत् और दीनता में राम’स्वामी पराङ्कुशाचार्य की एक प्रमुख रचना है। वे एक युगद्रष्टा एवं संस्कारस्रष्टा संत एवं साहित्यकार थे। उन्होंने अपनी पैनी नजर से समाज में व्याप्त बुराइयों एवं कुरीतियों का अवलोकन किया था। संत स्वभावेन उन्होंने इन समस्याओं से समाज को निजात दिलाने हेतु कारणों की पड़ताल की थी तथा पाया था कि मूलरूप में अर्थ संचय की होड़ ही समाज में व्याप्त अनर्थ का कारण है। अतः उन्होंने इस विकार से परित्राण हेतु शास्त्रीय प्रमाणों को आधार बनाकर समाधान प्रस्तुत किया, जो ‘सम्पत् में विपत् और दीनता में राम’ के रूप में रूपायित हुआ। उन्होंने शास्त्रीय तथ्यों को अपने अनुभव की चासनी में मिलाकर लोक के समक्ष प्रस्तुत किया, ताकि सामाजिक दूषण से समाज को मुक्ति प्रदान किया जा सके।

सर्वप्रथम, स्वामी जी ने श्रीमद्भागवत महापुराण में वर्णित श्लोक (6/11/22) का उल्लेख कर स्पष्ट कर दिया है कि भगवान् अपने भक्तों को सम्पत्ति, जो सभी सांसारिक कष्टों का जड़ और जननी है, नहीं देते हैं। पुनः (भा०पु०11/3/19)के श्लोकों का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि धन आत्मा और गृह-परिवारादि के लिए घातक है। भा० पु०(11/5/9) में भी कहा गया है कि धन एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति लोगों को अन्धत्व प्रदान करते हैं। ये अहंकार को पैदा कर व्यक्तित्व का पतन कराते हैं। फलतः लोग प्रमादी बन जाते हैं तथा संतों एवं भगवान् का ही अपमान करने लगते हैं। चाहे राजा हो या प्रजा धन के प्रभाव से हिंसा, दम्भ, लोभ, काम, क्रोध, अहंकार, वैर तथा व्यसनादि अवगुणों को धारण करते हैं। धन के लिए अपना-पराया का भी भेद भूल जाते हैं तथा सहोदर-सहोदर का एवं एक सम्बंधी दूसरे सम्बंधी का प्राणघातक बन जाते हैं। धन के मद में आकर भयानक से भयानक अत्याचार एवं कुकृत्य

करते हैं। यहाँ तक कि अर्थ के लालच में विप्र एवं गुरु जैसे श्रेष्ठ जनों का संहार अथवा मान-मर्दन करने में भी पीछे नहीं हटते। यथा:- 'कौड़ी कारण मोह वश करहिं विप्र गुरु घात'।<sup>1</sup> इसीलिए धन से उपजा मद को सर्प के विष से भी भयंकर कहा गया है, जिसकी प्रभाव-शक्ति लाखों कोस दूर से ही अनुभव किया जा सकता है। जब देवराज इन्द्र ने इसकी मादकता को नहीं पचा सकें तो औरों की क्या बात।

इस ग्रंथ में स्वामी जी ने विभिन्न शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है कि जब पुण्यात्माओं पर भगवान् की असीम कृपा होती है तो सर्वप्रथम भगवान् धन का हरण कर लेते हैं ताकि वे दुर्गुणों से बचे रहें। स्वामी जी का मानना है कि यदि ऐसा होता है तो मानना चाहिए कि उसपर ईश्वर की असीम अनुकम्पा है और भगवान् उसका कल्याण चाहते हैं। प्रायः लोग समझते हैं कि धन की हानि ईश्वरीय कोप अर्थात् विपत्ति है तथा धन का संचय अथवा लाभ ईश्वरीय वरदान है। लेकिन वास्तव में 'भगवान् विष्णु का स्मरण ही सम्पत्ति तथा उनका विस्मरण ही विपत्ति है।'<sup>2</sup> परन्तु यह दृष्टि ज्ञानी महात्माओं एवं भगवद्भक्तों को प्राप्त होता है, जो सुख-दुःख, लाभ-हानि एवं जय-पराजय में एक समान रहते हैं। सम्पत्ति लाभ तथा सम्पत्ति हानि का एक और पक्ष भी है। मानव पाप द्वारा भी दरिद्र या धनी हो सकता है तथा पुण्य द्वारा भी धनी अथवा दरिद्र बन सकता है। यदि कोई दरिद्रावस्था में भी पापाचरण करता है तो उसे पाप से दरिद्र होना समझना चाहिए; वहीं यदि दानी-ध्यानी एवं परमार्थी हो तो उसे पुण्य द्वारा धन-संचय होना जानना चाहिए। ठीक इसी प्रकार जिसका धन अपहृत हो जाता है फिर भी वह भगवान् का स्मरण करता है तथा पारमार्थिक कार्यों में संलग्न रहता है तो उसे पुण्य से दरिद्र होना समझना चाहिए। धन प्राप्त कर जो उसके मद में पागल होकर अनय एवं अत्याचार में संलग्न हो जाता है तो समझना चाहिए कि पाप के द्वारा धन संचय किया गया है। जय-विजय एवं वेणु पाप द्वारा धन प्राप्त करने के उदाहरण हैं; वहीं पाप द्वारा दरिद्र होने का उदाहरण सर्वत्र मिल जाते हैं। पुण्य से धनी होने का उदाहरण इक्ष्वांकु, मनु, ध्रुव, प्रह्लाद, दशरथ, जनकादि हैं, वहीं पुण्य से दरिद्र होने का उदाहरण विदुर, सुदामा, शुक एवं नारदादि हैं।

स्वामी जी ने श्रीमद्भागवत के श्लोक(10/10/13) को उद्धृत करते हुआ कहा है कि 'मदान्धों के लिए दरिद्रता उत्तम अंजन है। इस अंजन को लगाने से दरिद्र को और भी प्राणी उसके ही तुल्य दिखाई पड़ने लगते हैं, जबकि धनिकों में यह भाव नहीं होता।'<sup>3</sup> जब व्यक्ति का धन-बल, शरीर-बल, परिवार-बल का नाश हो जाता है तो भगवान् का स्मरण स्वमेव आने लगता है तथा भगवान् प्रिय लगने लगते हैं। जब जीव को परमात्मा प्रिय लगने लगते हैं, तब जीव भी परमात्मा का प्रिय हो जाता है। ऐसी अवस्था में जीव का कल्याण हो जाता है। यही कारण है कि पराङ्कुशाचार्य ने वैसी दीनावस्था को भी उत्तम माना है, जो भगवद्भक्ति में रमा दे। ऐसा अवसर पुण्य कर्मों से ही प्राप्त होता है।

स्वामी पराङ्कुशाचार्य ने इस रचना के द्वारा समाज में व्याप्त अर्थरूपी दानव के आतंक से उत्पन्न विष का रेचन करना चाहा है तथा यह संदेश देना चाहा है कि यदि समाज को स्वस्थ बनाना है तो धन की होड़ से दूर रहना होगा। यदि इस होड़ से दूर रहने में दरिद्रता का वरण भी करना पड़े तो उसे ईश्वरीय कृपा मानकर शिरोधार्य करना चाहिए। यदि समाज स्वस्थ होगा तो राष्ट्र भी स्वस्थ होगा। अतः स्वामी जी द्वारा प्रस्तुत शीर्षक 'सम्पत् में विपत् और दीनता में राम' पूर्णतः सत्य एवं समीचीन है। इस कृति की उपयोगिता वर्तमान युग सन्दर्भ में बहुगुणित हो जाती है। आज सर्वत्र अर्थ संचय की होड़ -सी लगी है। अपने-पराये की भावना बलवती हो गयी है। अर्थ के कारण ही पारिवारिक सौहार्द असंतुलित हो गया है जिसका प्रभाव सभी स्तर पर देखा जा सकता है। वर्तमान समय में अर्थ के अनर्थ से दूर रहने वाले निराला जैसे व्यक्तित्व की सर्वथा अभाव हो गया है जो जीवन के पथ पर हारना तो स्वीकार करता है, लेकिन गलत तरीके से धन संचय करना स्वीकार नहीं करता। यथा-

“धन्ये! मैं पिता निरर्थक था,  
कुछ भी तेरे हित न कर सका!  
जाना तो अर्थोगमोपाय,  
पर रहा सदा संकुचित काय  
लख कर अनर्थ आर्थिक पथ पर

हारता रहा मैं स्वार्थ-समर।<sup>4</sup>

स्वामी पराङ्कुशाचार्य भी निराला जैसे व्यक्तित्व की कामना समाज से करते हैं ताकि क्षुद्र स्वार्थों के खातिर सामाजिक विखराव न हो।

अस्तु कहा जा सकता है कि स्वामी पराङ्कुशाचार्य ने अपनी इस रचना में संपत्ति से उत्पन्न होनेवाली मद से लोगों को सचेत किया है तथा उसकी भयावहता से अवगत कराकर बचने का मार्ग सुझाया है। इसके साथ ही विपत् को अभिशाप न मानकर प्रभु की कृपा मानने की सालाह दी है क्योंकि विपत्ति में ही मानव की अग्नि-परीक्षा होती है और मानव सोने की भांति तपकर प्रखरता का संवरण करता है। वास्तव में विपत्ति मानव को सद्मार्ग पर लाने का एक ईश्वरीय युक्ति है। इसे ईश्वर द्वारा किया हुआ कोप समझकर बैठ जाना मानव की सबसे बड़ी भूल है। यह ईश्वर प्रदत्त वह कीचड़ है जिसमें ही पंकज पल्लवित एवं पुष्पित हो सकता है। ऐसी विकट अवस्था में मानव को चाहिए कि धैर्य को धारण कर, सात्विकता का आधान कर एवं कुमार्ग व कुवृत्तियों का परित्याग कर दृढ़तापूर्वक जीवन-पथ पर बढ़ते जाये। ऐसा करने पर निश्चित रूप से ईश्वरीय अनुकम्पा की प्राप्ति होती है और इस कृपा-प्राप्ति से विपत् समपत् का मार्ग प्रशस्त करता है तथा भावी जीवन में नये अरुणोदय के साथ पुनः नयी कलेवर में नयी जिन्दगी की शुरुआत होती है। अतः कहा जा सकता है कि 'समपत् में विपत् और दीनता में राम' की प्रासंगिकता और बढ़ गयी है। इस रचना की सामाजिक उपादेयता एवं औचित्य इसी में है।

1 सम्पत् में विपत् और दीनता में राम पृ० सं०-11 से साभार।

2 सम्पत् में विपत् और दीनता में राम पृ० सं०-10 से साभार।

3 सम्पत् में विपत् और दीनता में राम पृ० सं०-14 से साभार।

4 'सरोज-स्मृति' से साभार।

